Vol. 9, Issue: 12, Dec.: 2021
ISSN:(P) 2347-5404 ISSN:(O)2320 771X

पंथ निरपेक्ष समाज की स्थापना में धर्म सापेक्षता का योगदान

डॉ. संगीता शुक्ला
एसोसिएट प्रोफेसर,
प्राचीन भारतीय इतिहास एवं पुरातत्व विभाग
नवयुग कन्या महाविद्यालय,
लखनऊ विश्वविद्यालय से संबद्ध, लखनऊ

भारतीय संविधान के 42 वें संशोधन 1976 में धर्म निरपेक्ष शब्द जोडा गया और घोषणा की गयी कि हम भारत के लोग तथा उसके समस्त नागरिकों की सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय, विचार, अभिव्यक्ति विश्वास, धर्म और उपासना की स्वतन्त्रता–एतद् द्वारा इस संविधान को अंगीकृत अधिनियंत्रित और आत्मार्पित करते हैं। संविधान के कई अनुच्छेद धर्म निरपेक्षता को स्पष्ट करते है यथा अनुच्छेद 15 एवं 16 धर्म के अविभेदीकरण के सिद्धान्त को स्पष्ट करता है जिसके अनुसार बिना धार्मिक भेद–भाव के नागरिकों को समान अधिकार प्राप्त हैं। अनुच्छेद 27 में व्यक्तिगत सहमति को महत्व दिया गया है।

धर्म निरपेक्ष की यदि पाश्चात्य दृष्टिकोण से व्याख्या की जाय तो इसमें धर्म के प्रति तटस्थता का भाव विद्यमान माना जायेगा। किन्तु महात्मा गांधी सर्वधर्म समभाव मानते हुए भी अध्यात्म और पारलौकिक जगत में पूर्ण आस्था रखते थे और मानते थे कि हिन्दू धर्म विश्व धर्म का ही रूप है। डॉ0 राधाकृष्णन स्पष्ट रूप से भारतीय निरपेक्षतावाद का पाश्चात्य निरपेक्षवाद से विलगाव सिद्ध करते हैं। पंथ धर्म से भिन्न हैं जैसे भारतीय संस्कार सेरेमनी (Ceremony) नहीं हैं। धर्मों में यद्यपि निरपेक्षवाद के गुण हैं।[1]

निरपेक्षवाद आंदोलन का ब्रिटिश उपयोगितावादियों ने विशेष प्रचार किया। इस पाश्चात्य आंदोलन में ईश्वरवाद के प्रति तटस्थता अथवा नकारात्मक दृष्टि है। इसमें मानव के लौकिक जीवन की सुख–सुविधाओं को परम लक्ष्य मानना चाहिए इस पर जोर दिया गया। लौकिक सुख की प्राप्ति के लिये किसी दैवी सत्ता में विश्वास न करके मानव की बुद्धि और भौतिक साधनों पर ही निर्भर होना चाहिए। यूरोप में चर्च के आतंक तथा पुजारियों के प्रभाव से अलग होकर स्वतंत्र विचार का समर्थन करने वाले होलिओक (1849) ने बुद्धि, विज्ञान, लौकिक जगत, तर्क, सामाजिक न्याय, लोक कल्याण आदि को महत्व दिया। साम्प्रदायिक ताकतों को सत्ता में आने से रोकने और धर्म के नाम पर राजनीतिक और सामाजिक जीवन में कोई भी भेदभाव न होने देने के अभिप्राय से भारतीय संविधान में भी धर्मनिरपेक्षता को स्थान दिया गया।[2]

इसका परिणाम यह होना चाहिए था कि नए साम्प्रदायिकता विरोधी संघर्ष में एक बार फिर तर्क की प्रतिष्ठा होती और तर्क विवेक की अजस्र शक्ति से समाज में बुनियादी लोकतांत्रिक चेतना की नींव मजबूत की जाती। तर्क हमेशा समाज को उच्चतर लोकतंत्र की ओर ले जाता है और लोकतंत्र यदि

वह सचमुच है तो वह हमेशा समाज को उच्चतर तर्क की ओर ले जाता है। किन्तु राजनैतिक आत्म विश्वास की कमी, जातिवादी राजनीति आदि विविध कारणों से तर्क और नैतिकता की अवहेलना की जाती रही और अयोग्य अंध वफादार और चाटुकार को बढ़त मिलती रही है। ऐसे लोगों द्वारा बनाई गई सुख और सफलता की अवधारणाओं ने ही समाज की महान परंपराओं को उलट दिया। परिधि पर फेंके जाने के भय ने सत्तालोलुप व्यक्तियों को सिद्धान्तहीनता और नैतिक पतन की अत्यन्त निम्न सीमा तक पहँचा दिया है। सत्ता के लिये संघर्ष कोई नई बात नहीं है, लेकिन इसके लिये हर मूल्य और सिद्धान्त को कुर्बान कर अपनी ही राजनैतिक विचारधारा और परंपराओं की अवहेलना की जा रही है। यह समय वैचारिक अराजकता का समय है। समाज की कुरीतियों के विरूद्ध और उसके उत्थान के लिये किये जाने वाले जन–आंदोलन के स्थान पर सत्ता में आने के लिये रणनैतिक गठबन्धन महत्वपूर्ण हो गये हैं। जिसका शिकार साधारण जनता हो रही है। धर्म निरपेक्षता का सिद्धान्त अपने को भौतिक साधनों एवं सुख–सुविधाओं तक ही सीमित रखता है, जिसे प्राप्त करने की नैतिक सीमा क्या है इसका उत्तर इसके पास नहीं है। मानव तो संवेदनशील है अतः उसमें भौतिक सुख की प्राप्ति के अतिरिक्त पूर्णता और उदेश्यों की प्राप्ति के प्रति जो लगाव है उसके लिये धर्म निरपेक्षता के पास कोई उत्तर नहीं है। धर्म निरपेक्षता का भाव न तो जीवन का कोई अध्यात्मपरक उददेश्य ही मानता है और न ही ईश्वर अर्थात सृष्टि के निर्माता के प्रति कोई कृतज्ञता का भाव रखता है। अतः धर्मनिरपेक्षतावाद मनुष्य को एक असहाय और व्यग्रता की अवस्था में छोड देता है। नैतिकता और जीवन मूल्य व्यक्ति की आस्था पर निर्भर करते है परन्तु आस्था का तो धर्मनिरपेक्षतावाद में कोई स्थान ही नहीं है। अतः प्राचीन भारतीय समाज में प्रतिष्ठित धर्म की उपेक्षा नहीं की जा सकती है क्योंकि धर्म 'सेक्युलर' और अध्यात्म दोनों को अपने अन्दर सम्मिलित करता है। धर्म में व्यवहार और परमार्थ, लौकिक और पारलौकिक दोनों जगत सम्मिलित हैं। अतः सिद्ध है कि धर्म की उपेक्षा नहीं की जा सकती है।[3]

भारतीय धर्म सदियों से एक संस्कृति लेकर आ रहा है यह देश धर्म प्राण जरूर है किन्तु भारत की जनता में धार्मिक कट्टरता नहीं रही। वर्तमान सिर्फ संप्रदायवाद से मुठभेड ही नहीं ठोस निर्माणात्मक काम भी चाहती है। वह शिक्षा, चिकित्सा, न्याय, स्वच्छ प्रशासन और विकास चाहती है। भारतीय समाज में संप्रदायवाद का नया उभार वस्तुतः धर्म निरपेक्ष ताकतों के वैचारिकों एवं नैतिक दिवालिएपन का नतीजा है। आवश्यकता धर्मसापेक्षता के योगदान पर विचार करने की है और इसे जन आन्दोलन में परिवर्तित कर पंथ निरपेक्षता को स्थिापित करने की है।

व्यक्ति विशेष के सामाजीकरण की प्रक्रिया में जीवन–लक्ष्य का संधान तथा आचार–व्यवहार के अभ्यास का प्रारम्भिक सोपान परिवार ही है। जब एकाधिक परिवार गोत्र, कुल, पिण्ड अथवा अन्य कई समानताओं एवं आकांक्षाओं के कारण सहसम्बद्ध होकर कार्य करते हैं, तब जन का स्वरूप धारण करते हैं। जन जनता का समानार्थी है। जन से जनपद का विकास हुआ। इतिहास से स्पष्ट है कि जन से जनपद तथा क्रमशः विकसित होकर महाजनपदों का विकास हुआ। जन से जनपद और महाजनपदों के विकास की प्रमुख प्रेरक शक्ति है जनमत।

'स्वराज्य हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है' की उद्घोषणा जब लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक ने की थी। तब उनका आशय स्वराज की उस प्राचीन अवधारणा से था। जिसके अनुसार ईयचक्षा ही स्वराज्य शासन चलाने के अधिकारी है। ईयचक्षा वो लोग कहलाते हैं जो –1. जो सबके हित की व्यापक दृष्टि रखते हैं, 2. दूसरे 'मित्र' वत् व्यवहार करने वाले जनता के मित्र, जो सबका कल्याण करने में दत्तचित्त रहते हैं, जो कभी किसी से द्वेष नहीं करते, वे मित्रवत् व्यवहार करने वाले

स्वराज्य शासन चलाने के अधिकारी हैं। 3 तीसरे **'सूरयः'** अर्थात ज्ञानी, सत्यज्ञान से प्रकाशित होने वाले विद्वान, यथार्थ ज्ञान धारण करने वाले ये भी स्वराज्य शासन चलाने के अधिकारी हैं।

समाज में अन्तः विकसित दोषों तथा बहिर्जात दोषों का प्रभाव पड़ता है। अतः इन तीनों–जन, जनमत, जनतन्त्र का वास्तविक अर्थ, उन पर पड़ने वाले अन्तर्बाह्य प्रभाव तथा उनसे शुद्धिकरण एवं रक्षण का चिन्तन वर्तमान में न केवल भारत वरन किसी भी राष्ट्र की सुरक्षा और उन्नति के लिये आवश्यक है।[4]

पेज–53 जनमत के इस मत शब्द की व्याख्या इस प्रकार से कर सकते हैं, जो मति से प्रकट हो वह मत है और मति अपनी क्षमता सामर्थ्य, शक्ति के अनुरूप सत्य और असत्य दोनों की स्वीकृति करती है। मति असत्य को अपनी कार्य व भावना सिद्धि के लिये तथा धारणा को पुष्ट करने के लिये सृजित व स्वीकृत कर लेती है इसलिये मत अपने आप में अपूर्ण होता है तथा मत कालबाध्य होता है मत शाश्वत नहीं है तथा सर्वथा सत्य भी नहीं है।[5]

मत प्रतिपादित करने वाले व्यक्ति की मति भी कभी न कभी कहीं न कहीं सनातन विधा द्वारा सनातन धर्म से संस्कारित रहती है। इसलिये मति के द्वारा प्रस्तुत मत में भी धर्म के अंगों–उपांगों का कुछ न कुछ अंश में ही समावेश होता है।

इसलिये किसी भी मत को सूक्ष्म व स्थूल दोनों दृष्टि से देखने पर उन मतों में जो बाते सत्य है वे वास्तव में अनेक मत नही है वे सनातन मूल्य है जो उसी सनातन धर्म के अंगभूत घटक है।
आदर्श जन समूह की उपस्थिति में कोई भी संविधान राष्ट्र को उन्नति की ओर प्रवृत्त करेगा। इसका आशय है कि जिस प्रकार उपयुक्त ताने–बाने में उत्तम वस्त्र का निर्माण होता है उसी प्रकार जन समूह उत्तम तंत्र का निर्माता सिद्ध होता है।

योग का असली अर्थ है जोड़ना–जुड़ना, जोड़ते चले जाना, जुड़ते चले जाना। जब हम समस्त परिवार, समाज, प्रकृति, देश, धरती और सृष्टि से जुड़ाव महसूस करते है तब हम योग कर रहे होते हैं।[6]

संवेदना के कारण जब हम सबके सुख–दुख को अपना समझते हैं तभी हमारा सबसे जुड़ाव होता है। हमारा हाथ तभी बाकी शरीर से स्वस्थ रूप से जुड़ा है जब वह बाकी शरीर के प्रति संवेदनशील है, यदि वह बाकी शरीर के प्रति संवेदनशील नहीं है तो या तो बीमार है उसे लकवा हो गया है या वो बाकी शरीर से अलग हो गया है, अब जुड़ा ही नही है। तो योग का वास्तविक अर्थ है सबसे जुड़ना, जुड़ाव महसूस करना संवेदना के साथ, संवेदना के द्वारा और इसका उल्टा है बांटना, बंटना, बांटते चले जाना तरह–तरह के खांचों में, जाति के, धर्म के, क्षेत्र के, भाषा के, वर्ग के और न जाने कितने अनगिनत खांचे।

योग को समझने के बाद ही ज्ञान, भक्ति और कर्मचोग का वास्तविक अर्थ समझ में आता है। अपनी बुद्धि द्वारा सृष्टि में व्याप्त एकात्म का एहसास, पूरी सृष्टि एक विराट जीवंत शरीर है और हम उसके जीवंत अंग हैं इस सच्चाई का एहसास ज्ञान योग है।

पूरी सृष्टि के प्रति प्रेम, संवेदनात्मक जुड़ाव महसूस करते हुए कार्य करना, सर्वहित में कार्य करना, सबके सुख–दुख को समझना, सबका ध्यान रखना, किसी को विरोधी न मानना, किसी को पीड़ा न पहुंचाते हुए यथा संभव जीवन यापन करना यही कर्मयोग है।

वास्तव में ज्ञानयोग, भक्तियोग और कर्मयोग तीनों ही एक दूसरे के पूरक हैं और जीवन में पूर्णता और आनन्द तभी आता है। जब तीनों योगों को समझा और उन पर एक साथ अमल किया जाता है।

तंत्र की सफलता के लिये किए जाने वाले प्रयासों का महाभारत में उल्लेख मिलता है। (महाभारत पेज. 488) वस्तुतः महाभारत के स्यूमरश्मिने और कपिल जी के संवाद से एक आदर्श व्यक्तित्व गुण की जानकारी भी प्राप्त होती है।[7]

स्यूमरश्मिने के अनुसार, जैसे समस्त प्राणी माता की गोद का सहारा पाकर ही जीवन धारण करते है, उसी प्रकार गृहस्थ आश्रम के अवलम्बन से ही दूसरे आश्रम टिक सकते है। गृहस्थ ही यज्ञ और तप करता है तथा मनुष्य अपने कल्याण के लिये जो कुछ भी चेष्टा करता है जिस किसी भी धर्म का आश्रय लेता है, उस सबकी जड़ ग्रहस्थ आश्रम ही है। वेदों की अवहेलना से नहीं, उनके अनुसार कर्म करने से ही मानवता का कल्याण संभव है।

कपिल मुनि के अनुसार जो सन्यास–धर्म स्वीकार करके कर्मानुष्ठान से निवृत्त हो गये है, तथा धीर, पवित्र एवं ब्रह्मस्वरूप में स्थित हैं, वे ब्रह्मज्ञान से ही देवताओं को तृप्त करते है। जो सम्पूर्ण भूतों के आत्मा हैं, सबको आत्म भाव से देखते है तथा जिनका कोई विशेष पद (स्थान) नही है उस ज्ञानी पुरूष की गति का पता लगाने में देवता भी मोहित हो जाते हैं। कल्याण चाहने वाले को इन्द्रियों का संयम करना आवश्यक है। जो जुआ नहीं खेलता, दूसरे का धन नही लेता, नीच पुरूष का बनाया हुआ अन्न नही गृहण करता तथा क्रोध में आकर किसी को मार नही बैठता, उसके हाथ–पैर सुरक्षित रहते है। किसी को गाली न दें, व्यर्थ न बोले, दूसरों की चुगली या निन्दा न करें, थोड़ा और सत्य वचन बोले तथा सदा सावधान रहें। ऐसा न करने वाले अर्थात जिसकी इन्द्रियां वश में नहीं है, उसके समस्त कर्म निष्फल होते हैं। असाधु जनों के प्रति सावधान करते हुए कपिल मुनि ने कहा है कि जो लोग उस आचार का पालन करने में असमर्थ होते है, वे ही परमेश्वर की प्राप्ति कराने वाले तथा अवश्य फल देने वाले कल्णाणकारी कर्मों को फलहीन बताया करते है।

स्यूमरश्मि ने कहा– चारों वर्णों और आश्रमों के लोग एकमात्र अक्षय सुख के ही उद्देश्य से अपने–अपने कर्मों में प्रवृत्त हो रहे हैं। कपिल जी ने कहा–किसी भी वर्ण या आश्रम में प्रवृत्ति क्यों न हो, जिस कर्म का आचरण शास्त्र के अनुसार कामना और अहंकार का त्याग करके किया जाता है वह पुरूषार्थ का साधक होता है। जो जिस वर्ण या आश्रम के कर्तव्य का पालन करता है उसको वहां ही अक्षय सुख की प्राप्ति होती है। जो मनुष्य विवेक का अनुसरण करता है उसके समस्त दोषों का ज्ञान से परिमार्जन हो जाता है।

महाभारत 524 पेज

साध्यगणों को हंस का उपदेश

परामर्श जिन व्यक्तियों से लिया जाना चाहिए। इसका विवरण साध्यगणों को संदर्भ में बताया गया है ऐसे व्यक्ति पण्डित और धीर वक्ता हों और जिनकी उत्तम वाणी (अथवा कीर्ति) का सर्वत्र प्रचार है। सदसंगति का माहात्म्य स्पष्टता करते हुए स्पष्ट किया गया है कि पुरूष जैसे लोगों के साथ रहता है जैसे मनुष्यों का संग करता है और जैसा होना चाहता है, वैसा ही होता है। जैसे सफेद कपड़े

को जिस रंग मे रंगा जाये वैसा ही हो जाता है उसी प्रकार मनुष्य भी साधु, असाधु तपस्वी या चोर जिसकी संगति करता है उसी के वश में हो जाता है।[8]

महाभारत में धर्म शब्द की अवधारणा को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि जैसे अग्नि का धर्म उष्णत्व है। उष्णता न हो तो अग्नि की सत्ता ही नहीं रह जाएगी। ऐसे ही धर्म न हो तो हिंदू समाज की सत्ता ही नहीं रहेगी। पाश्चात्य प्रणाली को आदर्श मानकर किया गया विश्लेषण अनर्गल कल्पनाओं में मनुष्य को डालेगा ही। धर्म की उपेक्षा से ही वर्तमान मनुष्य समाज का पतन हुआ है। घूसखोरी, अनाचार, धूर्तता, चोरी, ठगी, हत्याएं, विश्वासघात ये सब कुकृत्य धर्म की उपेक्षा से ही मनुष्य में आये हैं और आते जा रहे हैं। विश्व में विनाश की ओर जाने की प्रवृत्ति धर्म त्याग से ही आयी है। धर्म एवं हतो हन्ति, धर्मों रक्षति रक्षितः। धर्म का जो नाश करेगा धर्म उसका विनाश कर देगा और जो धर्म की रक्षा करता है, धर्म उसकी रक्षा करता है।

मनुष्य सब जगह मनुष्य है। उसकी जाति, रंग रूप आदि भिन्न–भिन्न होने पर भी उसकी प्रकृति संसार भर में एक सी है। आहार, निद्रा, भय, मैथुन आदि की प्रवृत्ति थोड़ी बहुत सभी में पायी जाती है। काम, क्रोध लोभ, मोह कुछ कम ज्यादा सभी में है। हर्ष और शोक से सभी न्यूनाधिक प्रभावित होते हैं।[9] अपने शरीर की रक्षा करना अपने वंश की वृद्धि और विस्तार करना सभी चाहते हैं। सुख की खोज सभी को होती है। इसी प्रकार संस्कृत होने की क्षमता सभी में है। यह किसी जाति विशेष में परिमित नहीं। एक जाति, रंग या देश के मनुष्य जितने संस्कृत हुए है। दूसरी जाति, रंग या देश के मनुष्यों में उतने ही संस्कृत होने की क्षमता है। हां, इसके लिये उन्हें अनुकूल अवसर या परिस्थिति मिलनी चाहिये। इसके अभाव में वे कुछ समय तक निचले स्तर पर रह सकते हैं, परन्तु इस दशा में यह निष्कर्ष निकालना भ्रमपूर्ण और अज्ञानमूलक है कि एक जाति स्वभावतः ऊंची संस्कृति वाली है और दूसरी नीची संस्कृति वाली।

प्रकृति और उसके परिचर धर्म के कारण ही हमारे जीवन के लिये सहायक सिद्ध होते है। सूर्य अपने धर्म का पालन करता है ताप और ऊर्जा उत्पन्न करता है। जल प्राण शक्ति धारण करता है पृथ्वी गंध तथा उर्वश शक्ति धारण करती है। पेड़ पौधों फल फूल के साथ–साथ प्राणवायु प्रदान करते है। वास्तव में ये सभी अपने–अपने धर्म का ही पालन कर रहे होते है। केवल मनुष्य ही स्वार्थ वश अन्यों के अधिकारों का हनन कर उनके अस्तित्व पर संकट बन रहा है। इसका कारण उसकी धर्म विमुखता है।[10]

205–भारतीय समाजवाद आध्यात्मिकता से सम्बन्ध रखता है, रखता रहा है, इसलिये दासता, पराधीनता, परचक, अनर्थ परम्पराओं भी यह जैसे तैसे बचा रहा। इसकी सभ्यता, इसकी संस्कृति इसके अध्यात्मवाद में अब भी वह अद्भुत शक्ति है। जो व्यक्ति अध्यात्मवाद को जानेगा, वह ऐसे कार्य क्यों करेगा, जिससे दूसरों को कष्ट हो। जिस समाज में अध्यात्मवाद प्रचलित होगा वह दूसरे समाज को दूसरे राष्ट्र देश जाति को क्यों कष्ट पहुंचायेगा? हमारे प्राचीनतम पूर्वजों ने इस ऋत तथा सत्य (Ethic of right and good action) को समझा था और वे इसी ऋत तथा सत्य का उपदेश देते रहे।[11]

संदर्भ ग्रंथ :

1.डा. हृदय नारायण मिश्रा, सामाजिक राजनीतिक दर्शन के नये आयाम, पृ. 200
2.Mishra, H.N., New Dimensions of Socio-Political Philosophy Pg. 201
3.Mishra, H.N., Ricovery of faith Pg. 202

4.Jaiswal, K.P., Hindu Polity, 1924, Pg. 169-186
5.Jaiswal, K.P., Op.cit, Pg. 3-8
6.पाण्डे, गिरीश जागो! गणराज्य जागो, लखनऊ, 257, Jaiswal, K.P., Ethnology of the Republics, 1946, Pg. 177-186
7.महाभारत गीताप्रेस, स्यूमरश्मिने और कपिल जी के संवाद, पृ. 488; Tattvavivecani, Jayadayal Goyandka, Gita Press, Gorakhpur, India Pg.1-11
8.वही, हंस का साध्य गणों को उपदेश, पृ. 524
9.डा. सत्य प्रकाश, वैज्ञानिक विकास की भारतीय परम्परा, 1954, पेज, 1–3
10. Sarkar, B.K., The Beginning of Hindu Culture as World Power, 1916, Pg. 9-11
11. हिन्दू संस्कृति, गीता प्रेस, गोरखपुर, 2019, पेज– 190–192